IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

योगवाशिष्ठ एवं हठयोग ग्रंथों में योग की भूमिकाएं

डॉ. हेमलता जोशी
योग एवं जीवन विज्ञान विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं (राज.)

योग एक ऐसा साधन और साध्य है जिसका संबंध मानव जीवन से है। इसीलिए इसका अभ्यास सभी कालों में आरोही–अवरोही क्रम में आगे बढ़ता रहा। साध्य तक पहुंचने के लिए साधनों को जितना अधिक अपनाया जाता है, उनका अभ्यास किया जाता है, योग का मार्ग उतना ही सुगम होता जाता है। साध्य की प्राप्ति के अनेक सोपान हैं, भूमिकाएं हैं, चरण हैं, अवस्थाएं हैं या आरोहण के क्रम हैं जिन पर आरूढ़ होकर योगी आगे बढ़ता जाता है। योग के अनेक ग्रंथों में इनका वर्णन है। प्रस्तुत लेख में योगवाशिष्ठ तथा हठयोग के ग्रंथों में योग भूमिकाओं का वर्णन किया गया है। आशा है सुधी पाठकों के लिए उपयोगी हो सकेगा, ऐसा विश्वास है।

योग वाशिष्ठ में योग की भूमिकाएं

योग वाशिष्ठ भगवान् श्रीराम और महर्षि वशिष्ठ के बीच तत्त्वज्ञान की चर्चा पर आधारित ग्रंथ है। इसमें ब्रह्म विषयक ज्ञान ही सर्वोच्च है। अतः एकमात्र चेतन तत्त्व ब्रह्म ही सर्वोपरि है। यह पूरा ब्रह्मांड इसी की लीला है। अहंकार के नष्ट होने जाने पर एक ब्रह्म तत्त्व ही शेष रह जाता है। इसी एक तत्त्व को जानने हेतु आत्मा–परमात्मा संबंधी, जीव–जगत् संबंधी और बंधन–मोक्ष संबंधी आदि दुरूह विषयों का विभिन्न कथानकों, दृष्टांतों, आख्यानों, इतिहासों और कथाओं आदि के माध्यम से वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त योग संबंधी चर्चा भी इसमें सम्मिलित है। अतः योग सिद्धियां, योग साधन एवं योग भूमिकाएं इसी के अंतर्गत समाहित हैं। यह ग्रंथ ज्ञानपरक होने के साथ–साथ भक्ति और कर्म, सदाचार और सत्संग की महत्ता पर भी बल देता है। इससे स्पष्ट है कि यह कोरा सैद्धांतिक ही नहीं वरन् प्रायोगिक भी है। ज्ञानात्मक ही नहीं वरन् विज्ञानात्मक भी है। ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु ज्ञान और विज्ञान दोनों की ही आवश्यकता होती है। तभी योगी विभिन्न भूमिकाओं में आरोहण कर उस परम सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। इस ग्रंथ में योग की निम्न भूमिकाओं का वर्णन किया गया है–

1. शुभेच्छा–शुभ इच्छा साधक की वह इच्छा है जिसमें साधक के मन में सकारात्मक इच्छाओं, का सकारात्मक भावनाओं उदय होता है। इसे श्रवण भूमिका भी कहा गया है। यहीं से आगे की यात्रा प्रारंभ होती है। इस भूमिका में साधक को संसार की असारता तथा अपने जीवन के उद्देश्य का ज्ञान होता है। तब उसमें लौकिक संसार के प्रति वैराग्य भाव उदय होता है। वह सद्ग्रंथों का अध्ययन करता है, सत्संग करता है तथा ईश्वरोपासना आदि उत्त कर्मो का अनुष्ठान करता है। तुच्छ चेष्टाओं से बचता है और सदाचरण को ही व्यवहार का अंग बनाता है।[1] कहने का तात्पर्य है कि जब जीवन की वास्तविक सार्थकता का ज्ञान होता है तो साधक उस ओर आकर्षित होता है। इस आकर्षण में वह अपनी शक्तियों को नियोजित करता है, नकारात्मक पहलुओं से स्वयं को दूर रखता है। अतः मन, वचन और कर्म से वैराग्य भाव के साथ शुभाचरण उसका व्यवहार होता है। इसी क्रम में वह सत्संग, स्वाध्याय, सद् अनुष्ठान आदि कर्मों को करता है। इन सबके पीछे आत्मोद्धार की भावना ही प्रबल रहती है। अतः इसी भावना के कारण यह शुभेच्छा है।

2. विचार–इस अवस्था को मनन की अवस्था भी कहा गया है। इसमें साधक श्रेष्ठ पुरुषों से, ज्ञानियों से संपर्क रखता है, उनके उपदेशानुसार व्यवहार करता है। तब वह कषायों से स्वयं को दूर रखता है। ब्रह्म विषयक रहस्य का भी उसे ज्ञान हो जाता है। आध्यात्मिक विषयों में, शास्त्रों में स्वयं की बुद्धि का नियोजन

करता है, आश्रम में रहता है। वैराग्य भाव की तीव्रता से वह पत्थर की शय्या का वरण करता है। सद्ग्रंथों का मनन करता है, पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करता है। तब उसे अध्यात्म विषयक यथार्थ दृष्टि की प्राप्ति होती है।[2] इससे स्पष्ट है कि इस अवस्था में वह मनन और निष्काम पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से और अधिक निपुणता प्राप्त कर लेता है। उसका सदाचरण, उसका अध्यात्म विषयक चिंतन उसे यथार्थता के दर्शन में सहायक होता है।

3. असंग–असंग अवस्था को निधिध्यासन भी कहा गया है। असंग का अर्थ है संग का न होना, अकेला होना। असंग दो प्रकार है–सामान्य और श्रेष्ठ। सामान्य असंग के अंतर्गत न मैं कर्त्ता हूं, न मैं भोक्ता हूं, न ही मैं सांसारिक कर्मों हेतु बाध्य हूं और न ही दूसरों के लिए बाधक हूं के निश्चय से विषय भोगों के प्रति अनासक्त होता है। सुख–दुःख पूर्व कर्मों के अनुसार निश्चित और ईश्वर अधीन हैं। ये विस्तृत विषयभोग अंततः संताप देने कारण महारोग हैं तथा सांसारिक संपत्तियां परम आपत्तियां हैं। इस तरह अध्यात्मिक वचनों के अर्थ में संलग्न चित्त वाले साधक की यह आंतरिक मिथ्यात्व की भावना रहती है। श्रेष्ठ अंसग में सामान्य असंग के भावों के अभ्यास और महापुरुषों के सान्निध्य से, दुर्जनों की संगति का त्याग और आत्मज्ञान के प्रयोग के निरंतर अभ्यास द्वारा परमात्म तत्त्व के ध्यान में दृढ़ता हासिल हो जाती है। इसके उपरांत न मैं कर्त्ता हू, न ईश्वर कर्त्ता है और न ही प्रारंभ कर्त्ता है–ऐसे शांत भाव और मौन होकर स्थिर रहता है। इस अवस्था में साधक संपूर्ण संकल्पों से रहित होकर होकर परमात्व तत्त्व के ध्यान में स्थित रहता है।[3] इससे सिद्ध होता है कि असंग की स्थिति में वह ध्यानस्थ होता है। सामान्य असंग में अकर्त्ता और अभोक्तापन का भाव रहता है साथ ही कर्म और परमात्मा को सर्वोच्च मानता है। श्रेष्ठ असंग के अंतर्गत ध्यान की गहराई में जाकर और सत्य उद्घाटित होता है। तब न स्वयं ही कर्त्ता हूं, न प्रारब्ध और न ही परमात्मा कर्ता हैं, का भाव विकसित हेता है। इस स्थिति में वह शांत और मौन रहता है। अतः यह संकल्प–विकल्पों से शून्य होकर ध्यानस्थ होने की भूमिका है।

4. स्वप्न–यह अवस्था समभाव की अवस्था है। पूर्व की तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से जब अज्ञानांधकार दूर होता है तब वास्तविक ज्ञान प्रादुर्भूत हो जाता है। इस अवस्था में चित्त का पूर्ण चंद्रोदय के सदृश हो जाने से स्वप्न अवस्था की प्राप्ति होती है। तब साधक संपूर्ण जगत् में विभाग तथा आदि–अंत से रहित सम भाव से ब्रह्म का ही अनुभव करता है। द्वैत के शांत हो जाने से अद्वैत अवस्था ही शेष रहती है। तब योगी संसार को स्वप्न की भांति ही अनुभव करते हैं।[4] अतः सिद्ध होता है कि स्वप्न चेतना की क्रियाशील अवस्था है जो वास्तविक नहीं होती है। इसीलिए योगी को जब वास्तविक सत्य का साक्षात्कार हो जाता है तो द्वैत भाव मिटकर अद्वैत भाव जागृत हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य नहीं है, ऐसा अनुभव उसे हो जाता है तो साधक को संपूर्ण संसार स्वप्नवत् ही प्रतीत होता है।

5. अर्ध सुषुप्त–यह अवस्था अर्ध सुषुप्ति की अवस्था है। अर्थात् यह स्वप्न और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। इसमें चेतना कुछ अंशों में ही क्रियाशील रहती है। इसी तरह योगी की स्थिति की तुलना इससे की गई है। इस अवस्था में योगी समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं और योगी ब्रह्म में नित्य स्थित हो जाता है। बाह्य व्यापारों में लगा हुआ भी चारों ओर से शांत होने के कारण तंद्रा की सी स्थिति में रहता है। अर्थात् कभी तो समाधिस्थ रहता है और कभी शांत भाव से बाह्य व्यवहार में लगा रहता है।[5] इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे अर्ध सुषुप्ति में पूर्ण निद्रा का अभाव रहता है, वैसे ही योगी भी लंबे काल तक पूर्ण समाधिस्थ नहीं रहता है। जब वह समाधिस्थ होता है तो ब्रह्म में ही स्थित रहता है और जब बाह्य व्यवहार में रहता है तो भी शांत और निर्लिप्त ही रहता है। तब योगी की स्थिति तद्रा सदृश होने के कारण इसे अर्ध सुषुप्ति कहा गया है।

6. तुर्या–यह अवस्था निर्विकल्प की अवस्था है। अतः वह द्वैत और अद्वैत भावों से मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में योगी निर्वाण में प्राप्त न होता हुआ भी निर्वाण प्राप्त जैसा प्रतीत होता है। उसकी स्थिति शून्य आकाश में स्थित घट के सदृश ज्ञान शून्य हो जाती है पर सागर में परिपूर्ण घट के समान ही ब्रह्म से परिपूर्ण रहती है।[6] कहने का तात्पर्य है कि इस अवस्था में कोई विकल्प शेष नहीं रहते हैं। न द्वैत भाव और न ही अद्वैत भाव। ब्रह्म के साथ ही उसकी चेतना का तदाकार हो जाता है। तब जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है। यही जीवन मुक्ति की अवस्था है।

7. विदेह मुक्ति–इस अवस्था को शांत, वाणी से अगम्य और सभी भूमिकाओं की सीमा कहा गया है।[7] कहने का तात्पर्य है कि इस अवस्था में जानने को कुछ शेष नहीं रह जाता है। जब तक देह के साथ चेतना का अस्तित्व होता है तब तक ज्ञान–विज्ञान संभव है, उसके बाद नहीं। इसीलिए इसे सभी भूमिकाओं की सीमा कहा गया है।

हठयोग ग्रंथों में योग की भूमिकाएं

हठयोग के ग्रंथों में योग की विस्तृत चर्चा है। अतः योग भूमिकाएं भी इसी चर्चा में सम्मिलित हैं। इनमें मुख्यतः हठप्रदीपिका, शिवसंहिता सिद्धसिद्धांत पद्धति, हठरत्नावली आदि प्रमुख हैं। इन ग्रंथों में किसी में ये भूमिकाएं समान हैं और किसी में भिन्न हैं। जिनमें समान भूमिकाएं हैं, उन्हें दोहराने का श्रम नहीं किया गया है। अतः हठयोग ग्रंथों में वर्णित योग की भूमिकाएं निम्न हैं–

हठप्रदीपिका में योग की भूमिकाएं

हठप्रदीपिका में योग की चार भूमिकाओं का वर्णन है। वे इस प्रकार हैं–

1. आरंभ अवस्था–इस अवस्था में ब्रह्म ग्रंथि का भेदन होता है। इसके परिणाम स्वरूप आनंदानुभूति होती है। अंतः शरीर में झन–झन की तरह अनाहद नाद सुनाई देता है। इससे योगी के शरीर में दिव्यता, ओजस्विता, दिव्यगंध, आरोग्य एवं प्रसन्नचिता आदि विशेषताएं प्रकट होती हैं। कहने का तात्पर्य है कि जब प्राण का प्रवाह सुषुम्ना पथ में होता है तो वह प्राण शरीरगत ग्रंथियों अथवा चक्रों का भेदन करता हुआ आगे बढ़ता है। अतः जब प्राण ब्रह्म ग्रंथि अथवा अनाहत चक्र का भेदन करता है तो योगी को झन–झन के नाद की अनुभूति होती है। इस अवस्था में पहुंचने पर ही उसे अनेक प्रकार के अति सामान्य एवं सुखद् अनुभव होते हैं। इस अवस्था में वह शून्याचारी अर्थात् निश्चल चित्त वाला शांत अवस्था को प्राप्त करता है।[8]

2. घटावस्था–इस अवस्था में बिष्णु ग्रंथि का भेदन होता है। इस अवस्था में प्राण के कपाल कुहर में प्रवेश से परमानंनद सूचक भेरी के एवं आतजन्य शब्द सुनाई देते हैं। तब योगी देवतुल्य होता है।[9] कहने का तात्पर्य है कि जब सुषुम्ना में प्रवाहित प्राण कंठ स्थित विष्णु ग्रंथि अथवा विशुद्धि चक्र का भेदन करता है तब कपाल कुहर में भेरी अर्थात् वाद्ययंत्र की जैसी ध्वनि सुनाई देती है। उस समय योगी परम आनंद का अनुभव करता है।

3. परिचय अवस्था–इस अवस्था में प्राण का प्रवाह भ्रूमध्य में स्थित रहता है। यहां ढोल की ध्वनि की तरह नाद सुनाई देता है। तभी प्राण सभी सिद्धियों का प्रदाता महाशून्य में पहुंचता है। इस अवस्था में चित्त आनंद से आगे उठकर जरा, व्याधि, क्षुधा, निद्रा आदि से रहित होकर सहजानंद की स्थिति को प्राप्त करता है।[10] अतः सिद्ध होता है कि जब प्राण भ्रूमध्य स्थित रहता है तो ढोल की ध्वनि की तरह ही योगी को नाद सुनाई देता है। यहां पहुंचकर योगी अनेक दोषों से रहित हो जाता है। दुःख, शारीरिक रोग, भूख, प्यास, निद्रा पर विजय प्राप्त कर लेता है। तब उसे सहज ही आनंदानुभूति होने लगती है। ।

4. निष्पत्ति अवस्था– इस अवस्था में रुद्र ग्रंथि अथवा आज्ञाचक्र का भेदन कर शिव के स्थान पर पहुंचता है तब योगी को वीणा का झंकृत स्वर सुनाई देता है। तब चित्त सर्वथा एकाग्रचित्त होकर समाधि संज्ञक बनता है साथ ही ईश्वर के समान हो जाता है।[11]

कहने का तात्पर्य है कि निष्पत्ति अवस्था में रुद्र गंथ का भेदन होने से योगी को शिवत्व की प्राप्ति होती है। यही साधना की अंतिम अवस्था है।

शिव संहिता में योग की भूमिकाएं

इस ग्रंथ में योग की भूमिकाओं का प्रत्यक्षतः वर्णन नहीं हैं अपितु साधकों की योग्यताओं के अंतर्गत योग की भूमिकाएं स्पष्ट होती हैं। इस ग्रंथ में योग के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं– मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इसके साथ ही योगी अथवा साधकों के भी चार प्रकार बताए हैं। ये चार प्रकार हैं–मृदु साधक, मध्यम साधक, अधिमात्र साधक और अधिमात्रतम साधक। इससे स्पष्ट होता है कि जब साधक के चार प्रकार हैं तो साधना की भी चार भूमिकाएं हैं जिन पर क्रमशः आरोहण कर साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अतः इन भूमिकाओं का वर्णन इस प्रकार है–

1. प्रथम भूमिका – यह साधना की निम्न भूमिका है। इस भूमिका के साधक को मृदु साधक कहा जाता है। इस भूमिका में साधक मंद उत्साही, मूढ़ बुद्धि, रोग ग्रस्त, गुरु निंदक, लालची, चचंल चित्त, कायर, अन्याश्रित, निर्दयी, मंदाचारी तथा मंद वीर्य वाला होता है। ये साधक मंत्र योग के अधिकारी होते हैं। गुरु के अनुग्रह पर बारह वर्ष तक मंत्रसाधना करे तो उसकी साधना फलीभूत होती है।[12] कहने का तात्पर्य है कि यह योग की प्रारंभिक भूमिका होने से साधक में उतने गुणों का विकास नहीं होता है। मंत्रयोग की बारह वर्ष तक की साधना करने से उसकी साधना जब फलीभूत होती है तो उसके भीतर अनेक गुणों का विकास हो जाता है।

2. **द्वितीय भूमिका–** इस भूमिका के साधक को मध्यम साधक कहा जाता है। मंत्र साधना का अभ्यास करते–करते वह इस भूमिका में प्रवेश करता है। अतः इसकी भूमिका में साधक सामान्य बुद्धि वाला, क्षमाशील, पुण्यकर्म का अभिलाषी, मृदुभाषी, तटस्थता रखने वाला होता है। ऐसे साधक को अभ्यासरत देख गुरु द्वारा उसे लययोग की शिक्षा देनी चाहिए क्योंकि लययोग की साधना ही एकमात्र मुक्ति का साधन है।[13] कहने का तात्पर्य है कि मध्यम साधक में पूर्व की तुलना से आचार–व्यवहार में परिपक्वता आ जाती है। वह अपनी साधनारत रहता है। अतः ऐसा साधक लययोग का अधिकारी होता है।

3. तृतीय भूमिका– इस भूमिका के साधक को अधिमात्र साधक कहा जाता हहै। इस भूमिका के अंतर्गत साधक में स्थितप्रज्ञ, क्षमाशील, पुण्यकर्म का अभिलाषी, दयालु, सत्यभाषी, शूरवीर, समाधि के प्रति श्रद्धावान, गुरु के प्रति समर्पण आदि का भाव होता है। ऐसे साधक निरंतर छह वर्षों के अभ्यास द्वारा सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। अतः इन्हें गुरु द्वारा हठयोग की सांगोपांग विधि उपदेशित करनी चाहिए।[14] कहने का तात्पर्य है कि इस भूमिका में साधक और अधिक परिवक्वता को प्राप्त कर लेता है। इसलिए हठयोग की साधना उसके लिए उपयोगी मानी गई है।

4. चतुर्थ भूमिका–इस भूमिका के साधक को अधिमात्रतम कहा गया है। यह साधना की उच्चतम अवस्था है। पूर्ण के गुणों में उत्तरोत्तर विकास द्वारा वह इस अवस्था को प्राप्त करता है। अतः इस अवस्था में साधक महान पराक्रमी, उत्साही शूर वीर, शास्त्रज्ञ, अभ्यास परायण, मोह तथा आकुलता से रहित, मिताहारी, जितेन्द्रिय, शुद्धाचरण, सभी कार्यों में निपुण, दानशील, स्थिर बुद्धि, संतोषी, सौम्य आदि अनेक गुणों से संपन्न होता है। ऐसे साधक को तीन वर्ष की साधना के उपरांत सिद्धि पाना सुनिश्चित है। ऐसे साधक हेतु सभी योग साधनाएं उपयुक्त मानी गई हैं।[15] कहने का तात्पर्य है कि इस अवस्था में साधक राजयोग का अधिकारी होता है। पूर्व की सभी ध्यान साधनाओं में निपुण होने के कारण राजयोग तो उसकी चरमावस्था है। इसलिए वह योग के चार प्रकार उसके लिए उपयुक्त माने गए हैं। तीन वर्ष तक की साधना करने पर सिद्धि उसके लिए अवश्यंभावी है।

सिद्धसिद्धांत पद्धति में योग की भूमिकाएं

सिद्ध सिद्धांत पद्धिति भी हठयोग का एक प्रमुख ग्रंथ है। इसमें पिण्ड में ही ब्रह्मांड की कल्पना की गई है। योग साधना के द्वारा अवधूत अवस्था को प्राप्त करने के गुर भी इसमें निहित हैं। इस ग्रंथ में योग की पांच भूमिकाओं का वर्णन संक्षेप में किया गया है। वे भूमिकाएं हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तुर्य एवं तुर्यातीत। इन भूमिकाओं का ज्ञाता ही सिद्ध पुरुष एवं योगीश्वरों का ईश्वर कहलाता है।[16] शास्त्रों में इन भूमिकाओं का वर्णन शुभेच्छा, शिवचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थ भानिवी, तुर्यगा के रूप में किया गया है। विशेषकर उपनिषद् और योगवासिष्ठ में वर्णित योग भूमिकाओं के लगभग समान हैं।

हठरत्नावली में योग की भूमिकाएं

हठरत्नावली में हठप्रदीपिका की तरह ही योग की चार भूमिकाओं का उल्लेख किया है। ये भूमिकाएं हैं–आरंभ अवस्था, घट अवस्था, परिचय अवस्था ओर निष्पत्ति अवस्था।[17] इनका वर्णन हठप्रदीपिका के अंतर्गत किया है। अतः दोहराने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि योग की भूमिकाएं भले ही भिन्न–भिन्न हो सकती हैं पर सबका लक्ष्य एक ही है। वह है राजयोग की प्राप्ति। राजयोग को सभी योग साधनाओं का राजा कहा जाता है क्योंकि इसमें मन का अनुशासन इनता सुदृढ़ हो जाता है कि योगी उसका उपयोग अपने अनुसार कर सकता है। योगाभ्यास से चित्त इतना सूक्ष्म हो जाता है कि मन आदि अपने कारण में स्थित हो जाते हैं और अनावश्यक गतिविधयों के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। योगी इस अवस्था में परम आनंद की अनुभूति करता है। वह अपने स्वरूप का साक्षात् करता है, वह अपने से परिचित होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि योग की उच्चतम अवस्था को, राजयोग को प्राप्त करना इतना आसान नहीं है। इसमें साधक अपने को कठोर अनुशासन से बांधता है, अपना प्रबंधन करता है, अपनी शक्तियों को एक दिशा में केंद्रित करता है, तभी उसे सफलता मिलती है। इसलिए योग साधना का मार्ग कठिन होने पर भी जिज्ञासु साधक इस दिशा में प्रस्थान करते हैं और अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

संदर्भ स्थल

1. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 446
2. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 446
3. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 446–447
4. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 447
5. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 447–448
6. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 448
7. योगवाशिष्ठ, सर्ग 126, पृ. 448
8. हठप्रदीपिका, 4/70–71
9. हठप्रदीपिका, 4/72/73
10. हठप्रदीपिका, 4/74–75
11. हठप्रदीपिका, 4/76–77
12. शिव संहिता, 5/16–18, 62
13. शिव संहिता, 5/19, 62
14. शिव संहिता, 5/20–22, 62
15. शिव संहिता, 5/23–25, 62–63
16. सिद्धसिद्धांतपद्धतिः, 5/55, पृ. 75
17. हठरत्नावली 4/17, पृ. 134

संदर्भ ग्रंथ

1. योग वाशिष्ठ, गीता प्रेस गोरखपुर, अठाइसवां संस्करण, सं. 2073
2. हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम लोनावला, पुणे, 2001
3. शिव संहिता, हरप्रिसाद त्रिपाठी, चौखंबा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी 2006
4. सिद्धसिद्धांतपद्धतिः, स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, 2014
5. हठरत्नावली, श्रीनिवास योगी, लोनावला योग संस्थान, लोनावला, 2002।